अपूर्वा
अपूर्वा
अपूर्वा
अपूर्वा
अपूर्वा
अपूर्वा

केदारनाथ अग्रवाल

प्रकाशक
परिमल प्रकाशन
१७ एम० आई० जी०
बाघम्बरी आवास योजना
अल्लापुर, इलाहाबाद-२११००६

□

मुद्रक
भार्गव मुद्रण केन्द्र
इलाहाबाद-२११००३

□

आवरण एवं सज्जाकार
इम्पैक्ट, इलाहाबाद-२११००१

□

मूल्य
पचीस रुपये

□

प्रथम संस्करण
१९८४ ईसवी

परिमल प्रकाशन
· १७,एम आई जी बाघम्बरी आवास योजना, अल्लापुर
इलाहाबाद २११००६ फोन-५२८७१

धीर-मति

डॉ० रामविलास शर्मा

को

आदेह दीपित

'अपूर्वा'

सस्नेह

अनुक्रम

□

भूमिका

अबकी, मेरी नई कविताओं का यह संकलन 'अपूर्वा' है। छोटी-छोटी कविताओं का यह छोटे नाम का संकलन नामधारियों को कैसा लगेगा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। अनामधारियों को यह नाम दूसरी वजह से अच्छा न लगेगा। उन्हें इस नाम में कुलीनता की गंध मिल सकती है। वैसे यह कविताएँ कुलीनता से सम्बद्ध नहीं हैं। मैंने तो यह नाम इसे इसलिए दिया है कि इसे सहज ही लिया जा सकता है। इस नाम को लेने में जीभ को कठिनाई न होगी। यही औचित्य है इस नामकरण का।

इस संकलन मे २३ जनवरी सन् १९६८ ई० से लेकर ५ अगस्त सन् १९८२ ई० तक की कुल ६३ कविताएँ हैं। इस लम्बे अरसे मे मैं इतना ही लिख सका हूँ, ऐसी बात नहीं है। और भी बहुत कुछ लिखा है मैंने। अलावा इसके, अपने पेशे के काम मे भी समय गँवाता रहा हूँ। लोग कहते हैं पेशे-वर कवि हो जाना और हर-हमेश कविता लिखते जाना अच्छा नहीं होता। ऐसे मे जो लिखा जाता है वह घटिया होता है, चालू होता है, कविता के अच्छे पाठक उसे स्वीकार नहीं करते। लेकिन यह धारणा ठीक हो ही, यह मान लेना गलत होगा। देखा यह भी गया है कि कम लिखने वाले भी घटिया कृतियाँ देते रहते हैं। इसलिए आग्रह यही करता हूँ कि मेरी कवि-ताओं को जाँचें-परखें और इसकी चिन्ता न करें कि इतने लम्बे अरसे में मैंने इतना कम क्यों लिखा। देखें कि वे कैसी हैं!

भाववादी कविताएँ लिखता था। काव्य के भाववादी संस्कार मुझे प्रिय लगते थे। प्राचीन काव्य के तौर-तरीके मैं अपनाता था। इसीलिए तब जो कविताएँ मैं लिखता था, वह उसी तरह की इकाइयाँ बनती थीं। मुझे तब तक संसार का अनुभव बहुत कम हुआ था। मैंने आदमी के जीवन जीने की लड़ाई को दूर से भी नहीं देखा था। जो कुछ हो रहा था, वह परिवर्तन भी हो सकता था—इसका मुझे आभास भी नहीं था। मैंने अपने जीवन में तब तक संघर्ष जाना ही नहीं था। इसलिए मैं केवल अपनी रुचियों के संसार में रहता और उन्हीं रुचियों की कविताएँ पढ़ता और भाव-विभोर होता। वैसी ही कविताएँ भी लिखने का प्रयास करता। मेरी भाषा भी उसी प्रकार की होती। वही अच्छी लगती। संगीत-प्रियता मुग्ध करती। शाब्दिक स्थापत्य की सराहना करता तब मैं था और मेरी कविता। इनके अलावा दूसरों की उपस्थिति मेरे लिए न के बराबर होती थी। नारी की देह-यष्टि का सौन्दर्य अत्यधिक आकृष्ट करता था। प्रकृति का अनूठा सौन्दर्य तब तक मैंने जाना ही नहीं था। मेरी कविता पुराने किताबी काव्य-संस्कार से बनती थी। प्रकृति के पशु-पक्षी, बाग-बगीचे, नदी-पोखर-तालाब देखता तो था, पर मन में काव्य के संस्कार से सम्बद्ध नहीं हो पाते थे। धूप, हवा और ऋतुएँ अच्छी तो लगती थीं, परन्तु कविता को जन्म नहीं दे पाती थीं। यह भी सम्भव हुआ था कभी-कभी कुछ समय के लिए कि मुझे अपने गाँव के दीन-हीन लोगों की सामाजिक और आर्थिक स्थितियाँ विचलित करें मैंने एक बार अछूत नाम का एक दृश्य-काव्य लिखा भी। वह अपरिपक्व कृति थी। मेरे पिताश्री के मित्र श्री मंगल प्रसाद विश्वकर्मा (जबलपुर) ने उसे खूब ध्यान से पढ़ा और फिर एक लम्बे पत्र में अपनी प्रतिक्रिया लिख कर मेरे पिता के पास भेजी भी थी। वह अब भी मेरे पास सुरक्षित है। भावावेश में मैंने उसे लिखा था। हो सकता है कि उसके लिखने के पीछे श्री मैथिलीशरण गुप्त की कोई उसी तरह की कृति रही हो। तब आर्यसमाज का प्रभाव गाँव में था। कांग्रेस का प्रभाव भी जन-जीवन पर पड़ने लगा था। निम्न वर्ग से मानसिक सहानुभूति के दिन थे वे। मेरा युवा मन भी प्रभावित अवश्य हुआ होगा।

इसके बाद मैं इलाहाबाद, कानपुर में शिक्षा पाता रहा। वहाँ के लोक-जीवन से सम्पर्क हुआ। कानपुर का विशेष प्रभाव पड़ा। वहाँ के मजदूर

वर्ग का जीवन देख-सुन और समझ सका। राजनीति भी कुछ-कुछ आन्दोलित करने लगी। पर प्रभाव कांग्रेसी ही रहा। वकील होते-होते तक मैं मार्क्सवाद के जीवन-दर्शन से अपनी मानसिकता बनाने लगा। मुझे वर्ग-विभाजित समाज की जीवन-पद्धति अरुचिकर लगने लगी। मेरे भाववादी संस्कार ढीले पड़ने लगे और श्रम और समाजवाद के सिद्धान्त प्रिय लगने लगे। पहले की भाववादी आस्था टूटने लगी। कचहरी की कार्य-प्रणाली में आदमी के रूप में स्वार्थियों की जमात दिखने लगी। सत्य का गला मूठ से घुटते देख सका। न्याय के नाम पर मैंने सरासर अन्याय होते देखा। आदमी और उसके समाज की अर्थनीति और राजनीति से मुठभेड़ हुई। नतीजा हुआ कि मैं मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से अपना विवेक बनाने लगा। फिर तो काव्य के पहले के लगभग सभी संस्कार मुझे छोड़ कर पलायन कर गये। काव्य के सम्बन्ध मे मेरी धारणा बदल गयी। एक तरह से मेरा नया जन्म हुआ और मैं प्रगतिशील कविता लिखने लगा।

अपूर्वा की इन कविताओं में प्रगतिशीलता कई रूपों में विद्यमान है। कुछ कविताएं तो ऐसी हैं, जो दायित्व-बोध से आदमी की अपनी इकाई को सामाजिक व वैज्ञानिक बनाने की ओर उन्मुख करती हैं। दूसरी कुछ कविताएँ ऐसी हैं, जो आदमी को समाजवादी दृष्टिकोण से जीवन को जाँचने-परखने के लिए आमंत्रित करती हैं और यह ध्वनि प्रकट करती हैं कि जीने का यही दृष्टिकोण सही दृष्टिकोण है। आम प्रचलित धारणा के पीछे ऐसे अवशेषी संस्कार काम करते रहते हैं, जो आदमी को अपनी ओर ही खींचते रहते हैं और पारम्परिक जीवन जीने की ओर लगाये रहते हैं। कुछ ऐसे अहसास की कविताएँ हैं जो यथास्थिति के दूरगामी परिणामों को व्यक्त करती हैं और उनकी निस्सारता उजागर करती हैं। आदमी एक सजग, चेतन जीवन-दर्शन से लैस हो कर ही, अपने आसपास की घटनाओं के क्रम को देख कर, जीवन जीने की क्षमता बनाए, ऐसा मेरा विचार रहा है और अब तक है। कहीं-कहीं ऐसा भी है कि एक ही कविता मे यथास्थिति का बोध और वैज्ञानिक जीवन-दर्शन से प्राप्त बोध एक साथ ही प्रस्तुत हुए हैं। प्रकृति से प्राप्त कुछ कविताएँ भी इसी ओर इंगित करती हैं। रही बात कविताओं की कलात्मकता की, तो मेरी कलात्मकता मेरे ऐसे व्यक्तित्व की कलात्मकता है, जो निजी होते हुए भी दूसरो की मानसिकता की कलात्मकता हो सकती है। यह विचार ही नितान्त

अवैज्ञानिक है कि कला का अपना निजी शाश्वत क्षेत्र है, जो कविताओं की आम मानवीय चेतना से कतई सम्बन्ध नहीं रखता। मेरी और अप्रगतिशील रचनाओं में यही फ़र्क है, जिसे मेरी कविताओं को पढ़ कर जाना जा सकता है।

अन्त में मैं अपने प्रियजन डॉ० अशोक त्रिपाठी, एहसान आवारा, राम प्यारे राय, जयकांत शर्मा का हृदय से आभारी हूँ कि ये लोग समय-समय पर मेरी काव्य-यात्रा में साथ देते रहे हैं और अपने सुझाव से दृष्टि देकर कृतार्थ करते रहे हैं। मेरे प्रकाशक श्री शिवकुमार सहाय भी मुझसे अभिन्न रूप से सदैव ही जुड़े रहे है और मेरी पुस्तकों के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन में सक्रिय सहयोग देते रहे हैं।

सिविल लाइन्स, बाँदा —केदारनाथ अग्रवाल
१ अप्रैल, १९८४

अपूर्वा

न अपना—न और का
एहसास है
        धूप और आदमी को।
है भी तो
जैसे नही है
शीशे में कोई शक्ल—
कागज में कोई चित्र—
काव्य में कोई अर्थ—
याद में कोई याद !
सपाट सुनसान है
नदारद अस्तित्व !
न सत्य,
    न स्वप्न,
न यथार्थ !

२३ जनवरी, ६८

मुट्ठियों मे कैद आदमी
घूंसा बना है
दीवार तोड़ने के लिए तना है
मगर दण्ड की
व्यवस्था से अनमना है,
संपुटित उसकी चेतना है।

६ मार्च, ६८

न बुझी
आग की गाँठ है
सूरज :
हरेक को दे रहा रोशनी—
हरेक के लिए जल रहा—
ढल रहा—
रोज सुबह निकल रहा—
देश और काल को बदल रहा।

२ अप्रैल, ६८

समय बदला,

कटे पत्ते बड़े लम्बे हौसलों के;

खड़ा केला

जड़ें गाड़े

अब अकेला;

तना भर है,

जिये चाहे जिये जैसे,

बना भर है;

हरा हरदम गया

गम से नहीं दहला !

४ अप्रैल, ६८

मर्माहत है
प्रकृति
बिगड़ी राजनीति से ।
उखड़े पड़े हैं
परार्थी पेड़,
सूरज—
चांद—
सितारों का
मुंह जोहते ।
इंसान
अब फिर रोपते हैं
अपने और
दूसरों को
एक समान ।

इंसान
अब फिर खोलते हैं—
विसर्जन की जगह—
सर्जन के—

नयन
अपने और दूसरों के।

१२ सितम्बर, ७८
(बांदा में आयी भयंकर बाढ़ से प्रेरित)

खिली है

खूब छिटकी

पारदर्शी चाँदनी।

उल्टे पड़े हैं मगन मौन,

रेत पर लेटे,

संतुष्ट कछुए,

पीठ से धरती दवाये—

आसमान को पेट पर उठाये।

नदी पीती है

प्रकाश-प्रकाश!

पानी की नहीं—

प्रकाश की बहती है नदी।

यथार्थ की शिलाएँ—

शाप से मुक्त,

किनारे बैठी

अहिल्याओं-सी हँसती हैं।

और पुल,

खम्भों पर खड़ा,

आवागमन का मार्ग बना है!

३१ मार्च, ८०

(पारदर्शी चाँदनी में केन-किनारे का दृश्य)

धरा इरा है
    और धरा से उपजी वाणी
        स्वयं इरा है।
    यही इरा है मेरी,
यही इरा है मेरी कविता,
    जो तुम मुझसे पाते--
        अपनी कह कर
हृदय लगाते।

२६ जुलाई, ८०

जहाँ
आदमी
आदमी होता है,
वहाँ
—आप नहीं—
आपके आदमी होने का
धोखा होता है।

६ अगस्त, ८०

जहान से बाहर
अजान में जा रहा आदमी
कहीं-से-कहीं—
न कहीं कुछ होने के लिए,
अपने को गुमराह किये —
दूसरों को तबाह किये— !

१० अक्तूबर, ८०

जीने का दुख
न जीने के सुख से बेहतर है,
इसलिए कि
दुख मे तपा आदमी
आदमी-आदमी के लिए तड़पता है;
सुख से सजा आदमी
आदमी-आदमी के लिए
आदमी नही रहता है ।

२१ अक्तूबर, ८०

कुछ न कहो तुम,
तुम्हें देख कर समझ गये हम—
बिना कहे।
बिंधे ग्लानि से—
बँधे मौन से—
व्यथित हुए तुम
दुख की मार सहे;
हाड फोड कर
निकले आँसू
टप टप बहुत बहे।

३ जनवरी, ८१

मर्म को भीतर छिपाये,

जान को जोखिम से बचाये,

अकबकाये—

सकपकाये—

चलते चले जा रहे हैं लोग—

चीखते—

चिल्लाते—

काटते जूतों से परेशान,

राज-रथी राजनीति से

पिंड छुड़ाये—

दर्द की

चिट्ठी

वहरी

सड़क पर,

अंतहीन यात्रा का

अंत खोजते,

पास आती मौत को

मनौतियों से रोकते ।

२० जनवरी, ८१

आये गये
एक-से-एक महिमा-मडित मानी लोग,
जिनके बाजे
बजे रात-दिन
दिशा-दिशा में –
चढे और
चमके जो नभ में—
महा मही की विपदा भूले,
वही अंततः
गिरे गगन से,
आत्म-प्रपंची हो कर,
टूट गिरे हों जैसे नखत अनाम ।

२१ जनवरी, ८१

तैरता कुलकता है
महाकाश में
बादल का बेटा,
सफेद—
ऊनी—
मुलायम—
धरती की कोख का जाया
गभुआर मेमना।

८ फरवरी, ८१

जाग गया मैं भीतर बाहर,
गगन भेद कर
निकला सूरज
मुझे मिला;
तरल ताल की
मृदुल नाल पर,
मेरा शतदल कमल खिला—
रूप-रंग रस-राग भरा,
मधुरा हुई धरा,
जग-जीवन की
जय-यात्रा को
चेतन गंध चली;
समर जीतने लगे कर्म से
श्रम के बाहु बली।

२३ फरवरी, ८१

आप अभी जिंदा हैं,
मेरे लिए;
क्योंकि आपने
अपने मरेपन को
अन्तराग्नि मे
वारम्वार जलाया है;
तमांध को
परास्त कर,
सूर्य के रथ को
आगे बढाया है;
जग और जीवन को
जागरण से
जीवंत बनाया है।
व्यर्थ ही आप शर्मिंदा हैं,
मेरे लिए
आप अभी जिंदा हैं।

७ मार्च, ८१

न चलाओ

दम्भ की दराँती

मेरे सीने पर

हर्ष के हरे पेड़ जहाँ हँसते है,

फूल-फूल हुए महकते हैं;

नाजुक

पखुरियों से,

दुख-दर्द को परास्त करते हैं ।

१२ मार्च, ८१

जो हमारे साथ हैं
वह
        हमारे हाथ हैं,
कर्म के करतार हैं,
रुचिर
        रचनाकार हैं।

१२ मार्च, ८१

मरने का मन हो तब भी तो
मुझसे नहीं मरा जाता,
मेरा जीवन मेरे ऊपर ताने रहता है छाता;
घिरी घहरती मौत बरसती
मुझको नहीं परस पाती,
बूंद-बूंद वह टूट-टूट कर टप-टप-टप-टप झर जाती।
मैं चलता, डग भरते चलता,
कीचड़-कांच कुचलते चलता;
दुख-दुनिया की रीति – राह पर
गलता नहीं—नहीं ढलता।

१६ मार्च, ८१

मजे मारते मरते हैं
तथाकथित
प्रतिष्ठित आदमी;
तलातल में जी रहे
आदमियों के
कट्टर दुश्मन,
देखने में
महापुरुष-महिधर;
वास्तव में
दुष्ट दनुज—तस्कर।

२५ मार्च, ८१

चुनाव के पहले
आम आदमी रहा वह
पांव-पांव चलने का आदी रहा वह

अब
इमसाल
चुनाव के वाद
जीत की कुरसी हुआ वह
आम आदमी के वजाय चौपाया हुआ वह।

लोग
अब
आदमी को नहीं—
चौपाये को—
जीत की कुरमी को
सादर सलाम करते हैं
उसी के जिलाये जीते
और उसी के मारे मरते हैं।

२७ मार्च, ८१

अपने जन्म-दिन पर
आज, मैंने,
पी० सी० का दिया
गुलाब का पेड़
अपनी जमीन पर लगाया;

फूलों के
वनस्पतीय
राजकुमार को
जी-जान से मैंने अपनाया।

ताजिंदगी
इसे जिऊँगा,

फूलने पर
इसकी प्राकृत सुगंध पिऊँगा,
निरतर लड़ूँगा मैं
कठिन काल से लड़ाई,
लव मैंने इस पेड से
अपराजेय
आत्मीय लगाई।

१ अप्रैल, ८१

चालिस साल तक—
डुबकी लगाये रहा मैं
धैर्य के सागर में
समाधिस्थ रहा मैं।

अब हँसा मैं,
समाधि से बाहर हुआ मैं,
धूप में धूप
और पानी में पानी हुआ मैं,
पुत्र के
पुरस्कृत होने पर
उपकृत हुआ मैं।

१० अप्रैल, ८१

झरने

झरने को

गुलाब है झुका हुआ,

केवल

अनुमोदन पाने को

रुका हुआ ।

४ जून, ८१

उघट[1] घाट के
    घन-घमंड से हारा;
छल ने मुझको
    मौन मार से मारा;
फिर भी,
    अपने 'आत्म-हनन' का
        लिये सहारा,
प्रवहमान हूँ,
    जैसे मैं हूँ
जन-मन-धारा।

५ जुलाई, ८१

---

१. बार-बार एहसान जताने वाला—ताना मारने वाला।

गये,

लौटे चार दिन के बाद;

घिरे,

घुमड़े,

भीड़ का मंडल बनाये

कर रहे उत्पात,

दीप्त मंदिर

मारतंडी को छिपाये;

श्यामवर्णी

आसुरी आकाश में

सिक्का जमाये,

वरुण के

बदमाश बेटे

मेघ!

तिथिहीन

सुबह का सेब काटते हैं
हाथ के कमल,
प्यार की पुलक पंखुरियों से ।

पानी पुकारता है
सूर्य के भौंरे को,
दिन की देह में
गुंजार करने को ।

जी-जान से
जवान किये है रोशनी
प्रकृति को जीवत जवानी से ।

२५ अक्तूबर, ८१

अँधेरे में प्रवाहित, अकुलाई नदी में,
जल-विहार करती है
दियलियों मे विराजमान,
आदेह दीपित,
रुई की स्नेहिल सुकमार बातियाँ—
एक नहीं—
हजार हजार की संख्याओं मे
एक साथ।

विम्बोक्ति से
चेतन हुआ
चमत्कृत नीर,
दियों का दर्शन पाकर।

दिये—
नहीं हैं ये दिये!
नेह की नदी से उद्भूत,
आदिम—
अनाविल,
छंद हैं ये आत्मानुभूति के,

कंठस्थ कर रहा है जिन्हें वर्तमान,
तत्काल।

यही है
आत्म-दाही चिंतन के
निर्भय और निरस्त्र दिये,
स्वयं-प्रकाशी —
दूसरों को कर रहे प्रकाशित;
तमोगुण-हारी,
गतोगुणी दिये ।

साश्चर्य देखते हैं आदमी,
दियों की कौतुकी करामात,
दोनों ओर खड़े,
जगमग में खाये मात ।

२७ अक्तूबर, ८१

मन का मौन

विराट हो गया;

मेरी वानी मे

विराट का बोध भर गया ।

मैं अशब्द गुंजार हो गया,

जड़-चेतन का

अन्तर्भेदी प्यार हो गया;

जरा-मरण से पार हो गया;

अन्तहीन

विस्तार हो गया ।

३१ अक्तूबर, ८१

बांध रहे जो

दिशा-दृष्टि की—

गम्य ज्ञान-संज्ञान-गमन की धारा,

जडमति-चिंतन-चट्टानों से —

बल-विरोध, बाधा-विरोध से—

प्रतिगामी प्रत्यावर्तन से—

सफल न होंगे

वे अपघाती,

चाहे जितना कूटें छाती,

टूट चुके हैं—

फिर टूटेंगे

अपकामी अवरोधन—

छलकामी—

हठकामी

जितने हैं सम्मोहन ।

सत्य

प्रतिष्ठित होगा—होगा;

लोक-धर्म भी बदलेगा;

युगधर्मी आलोक

पुनर्जीवन बरसेगा।

१ नवम्बर, ८१

खड़ा पहाड़ चढा मैं
अपने बल पर।
ऊपर पहुँचा
मैं नीचे से चल कर।
पकड़ी ऊँचाई तो आँख उठाई,
कठिनाई अब
नहीं रही कठिनाई।

देखा :
छल-छल पानी
नीचे जाता,
ऊँचाई पर टिका नहीं रह पाता।

जड़ता
झरती है
ऐसे ही नीचे,
चेतन का पौरुष
जब उठना ऊँचे।

१० नवम्बर, ८१

मैंने आंख लड़ाई
गगन विराजे राजे रवि से, शौर्य में;
धरती की ममता के बल पर।
मैंने ऐसी क्षमता पाई।

मैंने आंख लडाई
शेषनाग से, अघकार के द्रोह में;
जीवन की प्रभुता के बल पर
मैंने ऐसी दृढता पाई।

मैंने आंख लड़ाई
महाकाल से, मृत्युंजय के मोद में;
अजर अमर कविता के बल पर
मैंने ऐसी विभुता पाई।

१२ नवम्बर, ८१

बिस्तर लपेट कर चल दिया अँधेरा
सूर्य की आहट पा कर।

मायके से आई
दूर देश की बेटी नदी,
शहर के बाहर
शिलाओं की ससुराल में पड़ी
लहँगा लहराये
लहरें लेती है।

चक्कर काटते हैं—
पंख फैलाये,
मुक्त, मंडलाकार,
प्यार के पखेरू;
याद में आये हों जैसे
उसी के भाई-भतीजे—
उसी के पास।

तट पर लगी
उल्लास का उत्सव देखती है
उत्सुक नाव।

मद

मदिर

हवा चली

मूल बद्ध जीवन के भाव-बोध छंदों की

चाल में ढली;

यहाँ

वहाँ

जहाँ-तहाँ

नाच उठे

फुट्टफैल—

गोलबद्ध

प्राण के परेवा,

चेतना

प्रबुद्ध हुई—

जागरण हुआ।

१५ नवम्बर, ८१

गावों मे थाने
और थानों में सिपाही हैं

थानों के जियागे
राज-तंत्र से सिपाही हैं

जनता को मिटाये
मार-तंत्र से सिपाही हैं।

२६ नवम्बर, ८१

रात मे

रवि सो गया है,

तोम तम में खो गया है,

कान जैसे

पेड़ के पत्ते लटकते

टाप सुनते,

ओस पड़ती है टपाटप ।

सांस साधे

रात रोती,

मौन -

अंधी ।

वायु

पेड़ों पर टंगी है

भूरा बन कर ।

नींद है निश्चेष्ट,

पहरे पर हटी निःस्वप्न,

प्यार के पंछी

पड़े बेहोश

नीड़ों मे अजान,
अस्मिता-गत मेदिनी है !
शून्य सन्नाटा प्रबल है !!
सृष्टि की सीतापुरी सूनी पड़ी है।

काल का कौतुक अहेरी ओट मे है,
नही मालूम—
कहाँ कैसी खोट मे है।

जल अकम्पित,
थल सशंकित,
आग हत है।

रात की यह वेदना
मैं भोगता हूँ।

चेतना मेरी
मुझे जिंदा किये है।

२६ नवम्बर, ८१

सुराज ! सुराज !
मौत के घाट पर मारे गये आदमियों का

भोंड़ा अट्टहास !

न हुई चौबिस आदमियों की मृत्यु
दारुण राजतंत्र की मृत्यु !
परेशान घूमती-फिरती है मेरी कविता
क्रांति के प्रवाह का विश्वास लिए ।

समाधान खोजते

और टटोलते हैं

मनबहलाऊ नरक के नायक
फाइलों में
प्रचारित विज्ञप्तियों की रोशनी जलाये,

कुर्सियों पर आसन लगाये,

अघों से न अघाये,
चातुरी का 'चन्द्रोदय' खाये !

बचे लोग

अब शासन और संविधान से परेशान

जी-जान से बहुत घबड़ाये ।

२६ नवम्बर, ८१

आकस्मिक भले हो
प्रधानमंत्री के जन्म-दिन पर हुई
चौबिस हरिजनों की हत्या ।

भयंकर है यह नर-संहार,
        अमानुषिक हुआ अत्याचार,
भारत-भाग्य-विधाता के शासन-तंत्र के लिए !

अश्रु-विगलित है जनतंत्र की जनता;
संसद के सदन में मचा है हाहाकार;

शब्दों का संविधान भी
हुआ है असमर्थ
और अर्थहीन !

रक्त से रंजित हुई है देश की देह;
कलुषित और कलंकित हुई है प्रान्तीय व्यवस्था !
निराकार और नपुंसक हुई है सरकार !!

छुट्टा घूमते फिरे हैं जानलेवा जानवर
प्राणहर आदमियों के वेश में निर्द्वन्द्व !

निष्क्रिय है
लचर और बेदम प्रतिकार !
समाप्त नहीं हो पा रहा नरमेध-यज्ञ !

उड़ने-उड़ाने में
धुआँ हुआ उद्धार !
बाँटने-बँटाने से दया-दान-द्रव्य
न हुआ उन्मूलित—
न रुका अत्याचार !
व्यर्थ है ऐसा समाधान—ऐसा निदान !

वड़े संक्रामक है
साम्पत्तिक सम्बन्धों के
पुरातन सस्कार !

टूटते-टूटते भी नही टूट पा रही
शताब्दियों की जकड़बंदी !
सम्पूर्ण वदलाव के बिना
स्थापित नही हो सकता सार्थक नवीन !

२६ नवम्बर, ८१
(देवली के नर-सहार पर)

मर कर भी जो मरे नहीं

वह अमर हो गये !

जी कर भी जो जिये नहीं

वह कहर हो गये !

१ दिगम्बर, ८१

अब भी बोलता है,
करकते ओठों से
कांच-कांच का टूटा आदमी,
न टूटे इंसान की तरह
जीवन-जयी बोल,
दर्द की दुनिया में
गिरा,
पड़ा,
और बिखरा।

हैरान हैं उसके तोड़ने वाले
जीवन-जयी बोलों से;
भयातुर बंद किये अपने कान;
टूटे आदमी की तरफ पीठ किये।

५ दिसम्बर, ८१

सब कुछ देखा

तुम्हें देख कर

अब अनदेखा देखा—

कंचन-वर्णी तक्षक देखा—

फन फैलाये

भक्षक देखा।

५ दिसम्बर, ८१

मुग्ध,
ठगा-का-ठगा खड़ा, मैं
चाँद देखता रहा हृदय की आँखें खोले,
बँधा-बिंधा प्राकृत प्रकाश के
अनपाये प्रिय को अपनाये,
जैसे पहली बार।

और
एका-का-एका रहा शशि
मुझे देखता हुआ मंडलाकार प्रदीपित,
बँधा-बिंधा भू की प्रतिभा के
अनपाये कवि को अपनाये,
जैसे पहली बार।

१० दिसम्बर, ८१

सत्य पर चढाये
असत्य का अँधेर खोल,
सीना तान,
सर्वोपरि बने
और ठने;

घात में लगाये
जंगली-जनतंत्र का जाल,
फाँसते-फँसाते चले आते हैं
दिग्देश और काल,

यही है आधुनिक-युगीन
भूगोल और खगोल के
विश्वासघाती मसीहा
जो आदमी नही है !

१४ दिसम्वर, ८१

मुग्ध,
ठगा-का-ठगा खडा, मैं
चाँद देखता रहा हृदय की आँखें खोले,
बँधा-बिंधा प्राकृत प्रकाश के
अनपाये प्रिय को अपनाये,
जैसे पहली बार।

और
रुका-का-रुका रहा शशि
मुझे देखता हुआ मंडलाकार प्रदीपित,
बँधा-बिंधा भू की प्रतिभा के
अनपाये कवि को अपनाये,
जैसे पहली बार।

१० दिसम्बर, ८१

सत्य पर चढ़ाये
असत्य का अँधेर खोल,
सीना तान,
सर्वोपरि बने
और ठने;

घात में लगाये
जंगली-जनतंत्र का जाल,
फाँसते-फँसाते चले आते है
दिग्देश और काल,

यही है आधुनिक-युगीन
भूगोल और खगोल के
विश्वासघाती मसीहा
जो आदमी नहीं है !

१४ दिसम्बर, ८१

तुमने,

हमको मारा,

मार-मार कर फिर-फिर मारा;

हमे मार कर,

तुमने अपना स्वांग सँवारा,

और हमारा स्वांग उतारा।

अरे विदूपक !

हिंसक है हठयोग तुम्हारा !

दारुण है दुखभोग हमारा !!

२८ दिसम्बर, ८१ / ३ जनवरी, ८२

पेड़ महोदय !

कलियाँ खोलो,

कुछ तो हमसे

हँस कर बोलो।

२ जनवरी, ८२

बोलते-बोलते

बोला क्या

तैश में हिनहिनाने लगा।

लगाम

जो मैंने उसके लगाई

हिनहिनाना रुका।

यार फिर मेरा

घोड़े से आदमी हुआ।

२१ जनवरी, ८२

आया

लेकिन ठिठुरा-ठिठुरा,

बादल ओढ़े,

बिना फूल-फुंदना के आया,

अब की बार बसन्त ।

इससे हमने नही मनाया

पहली बार बसन्त !

चला गया बेकार बसन्त !!

३० जनवरी, ८२

रोशनी मे नहाये,

लिबास में लपलपाये,

हजारो की सम्पत्ति हथियाये,

ठहरे आदमी

यथावत् ठहरे है—

इनकी महामाया के

वड़े मारू नखरे है।

१ फरवरी, ८२

उनके यहाँ,

दुनिया नही घूमती,

जिनके यहाँ

सिर्फ

दीवार में टँगी

घड़ी की सुइयाँ

घूमती है—

सुइयों के साथ

पूर्वजों की छाया

घूमती है—

घूमती छाया को

लोक-लांछित माया

चूमती है।

१ फरवरी, ८२

नीम के पेड़ पर
चढ़ी बैठी
आज
अपना जन्म-दिन
मनाती है
सखी-सहेलियो के साथ
अल्हड गिलहरी
जैसे कोई
राजकुमारी
राजमहल के अतरंग में
मनाये अपना जन्म-दिन
राज परिवार के साथ

७ फरवरी, ८२

काश !

मैं भी फूलता

मेरे भाई अनार !

देता, तुम्हारी तरह, मैं भी

लपट मारती कविताओं के फूल

क्रान्तिकारी फूल।

धन्य होता मैं,

धन्य होती मेरी कविताएँ,

मेरे प्राकृत प्रवीण कवि अनार !

स्वीकार करो

मेरा हार्दिक आभार !!

१ अप्रैल, ८२

घटे उठे,

सितारे सोये,

हुआ सवेरा,

शासन करने लगी रोशनी

कविताओं के फूल खिलाये।

२ अप्रैल, ८२

ढूंढते लोग
कचहरी मे ढूंढ़ते है मुझे !
जिरह्-बहस करते में वही ढूंढ़ते है मुझे !
हार-जीत के हुए फैसलों मे ढूंढते है मुझे !

ढूंढते-ढूंढते, मुझे नही,
अपने हितों को ढूंढते है लोग,
हितों के यज्ञ में हविष्य हो रहे मुझको नही—
मेरे बेलौस आदमी को नही—
दाम के अपने गुलाम को ढूंढ़ते है,

न पा कर उसे, छोड कर चल देते है मुझे;
और मै
हविष्य हो कर भी उन्ही के लिए जीता हूँ—
उन्हें आदमी बनाने के लिए—
सत्य-संज्ञान की रचनाएँ सुनाने के लिए—
उनकी चेतना में मानवीय बोध की गरिमा जगाने के लिए—
उनको विवेकी बनाने के लिए।

ढूंढते लोग नही ढूंढ पाते मुझे,
मैंने ही उन्हें ढूंढा, और पाया—
और उन्हीं के लिए
अपने को हविष्य बनाया।

२१ अप्रैल, ८२

धूप में खड़ा

हँसता है फूला गुलमोहर,

फूल है

कि पेड़ पर बैठीं पंख खोले

झुंड-की-झुंड तितलियाँ है

रसराज की रंगीन अभिव्यक्तियाँ हैं।

भंग हो गई
महाराज सूर्य की
न हँसने की अज्ञापित निषेधाज्ञा।

झकाझोर
झूमता झूलता है
मैदान का बेटा गुलमोहर,
हर्ष की हिलोर में
हवा का हिंडोला।

डाल से-डाल पर
चहकती फुदकती है
चुनमुन चिड़ियाएँ।

चिक-चिक करती
बहुत बतियाती है
गिलहरियाँ,
स्वर्ग से जैसे उतर आई
पेड़ पर अप्सरियाँ।

मुग्ध है

मई के महीने का
धूल धूसरित मैदान
लौट आई देख कर
गुलमोहर में जीवंत जवानी ।

६ मई, ८२

न टिके रह सके व्यवस्था मे कमलेश्वर !
न व्यवस्था टिकाये रह सकी कमलेश्वर को !!

अलग हुए एक दूसरे से दोनों
अपनी अपनी विवशताओं से
अपने अपने मन्तव्य के मुताबिक ।

असम्भव था दोनों का
एक दूसरे से जुड़े रह पाना,
एक ही चाल और चरित्र से
एक साथ चल पाना ।

व्यवस्था का तंत्र
राज-रंजन का तंत्र होता है

ऐसे तंत्र में वही आदमी खपा होता है
जो इसी के तामझाम में पला, बढ़ा,
और पालतू बना
व्यक्तित्व खो चुका होता है।

न ऐसे तंत्र के पालतू रहे कमलेश्वर!
न ऐसे तंत्र की शक्तियों के सम्मुख
नत मस्तक हुए कमलेश्वर!!

होने को वही हुआ जो अवश्यम्भावी था;
न कुछ अजब हुआ—
न गजब हुआ;
मुक्त हुए कमलेश्वर
अपनी जिंदगी जीने के लिए।

८ मई, ८२

माँ से

पूछ रहा है बेटा :
मैं क्या ? तू क्या मम्मी ?

मम्मी कहती है बेटे से :
मैं हूँ तेरा प्रश्न,
तू है मेरा उत्तर।

६ मई, ८२

जंगल बोलता है,

दिन के विजय-पर्व के बाद,

अंतराय[1] से निःसृत

अंधकार के

आदिम बोल,

व्याकुल है भूगोल-खगोल।

१० मई, ८२

---

१. विघ्न-बाधा

सिंहासनस्थ हैं श्रीमान गिरगिटान
मेरे गुलाब के फूले खड़े पेड़ पर,
प्रकृति की रम्य रचना का आस्वाद लेते
सुगंध से सन्तुष्ट।

गिरगिटान, कोई और नही,
राज-रथ पर सवार मंत्री लगता है,
जिसके चलाये
रथ-चक्र नही चलता है।

६ जून, ८२

आर्द्र बना कर
छोड़ गया है
जब से बादल,
पानी के अक्षर रोया है
खड़े-खड़े
चुपचाप पहाड़ ।

६ जून, ८२

चलते आदमी अब नही चलते—
सिर्फ
      चप्पल-जूते—
      और कपड़े चलते है—
आदमी होने के एहसास से
वंचित रहते है ।

१४ जून, ८२

जब भी—

जहाँ भी दिखे

हिमानी अस्तित्व के श्वेत शिरोमणी जी

आग के आकुल अंगार तोड़ते दिखे;

निराधारी राजनीति के

धुआँधारी-समाधान छोड़ते दिखे;

वाहवाही लूटते-बटोरते,

दूसरों के लिए

मौत के कुएँ खोदते दिखे।

२२ जून, ८२

बहता पानी
निराकुल बहता रहा,
डूबा पत्थर अतल में डूबा रहा।

मथता मंथन
मनोजल मथता रहा,
जाज्वल जीवन
मनोबल भरता रहा।

चलता चिंतन
निरापद चलता रहा,
पुरंदर असत् पलायन करता रहा।

खुलता दिग्पट
अशेपत खुलता रहा,
मिटता दिग्भ्रम आद्यत मिटता रहा।

५ अगस्त, ८२